दूसरी नज़र

■ पी चिदंबरम

क्या मोदी सबका भरोसा जीतेंगे

नरेंद्र मोदी को जो जनादेश मिला है, वह वाकई बहुत बड़ा है। निश्चित ही, पहले भी ऐसे मौके आए हैं जब लोकसभा चुनाव में राजनीतिक दलों को तीन सौ तीन से ज्यादा सीटें मिली हैं। गौर करें, इंदिरा गांधी को 1980 में तीन सौ तिरपन सीटें मिली थीं, और 1984 में राजीव गांधी को चार सौ पंद्रह सीटें। लेकिन तब हालात अलग थे। इंदिरा गांधी ने एक अलोकप्रिय सरकार के खिलाफ बहादुरी से संघर्ष किया था और जेल सहित कई तरह के उत्पीड़न झेले थे और लगभग अकेले ही उन लोगों का समर्थन वापस हासिल किया, जिन्होंने उन्हें (रायबरेली में) और उनकी पार्टी को हराया था। राजीव गांधी के मामले में, वे सहानुभूति की उस लहर में जीते थे जो इंदिरा गांधी की हत्या के बाद देश में पैदा हुई थी।

मतदाताओं का भारी समर्थन

केवल जीती हुई सीटों की संख्या (303) ने नहीं, बल्कि व्यापक स्तर पर हुई भाजपा की जीत ने आश्चर्यचकित कर दिया। सिर्फ तीन राज्यों- केरल, तमिलनाडु और आंध्र प्रदेश- में भाजपा सेंध नहीं लगा पाई। जीत का अंतर भी आश्चर्यजनक रूप से बड़ा रहा, गुजरात, राजस्थान, हरियाणा, मध्यप्रदेश, छत्तीसगढ़, हिमाचल प्रदेश, उत्तराखंड और असम में तो दोनों दलों के बीच सीधे मुकाबले में यह काफी ज्यादा रहा।

जब प्रामाणिक आंकड़े नहीं हैं, चुनाव और सर्वे इस बात की पुष्टि कर चुके हैं, जैसी कि उम्मीद थी, कि हिंदीभाषी और हिंदी जानने-समझने वाले राज्यों में सवर्ण जातियों के वोट पूरी तरह से भाजपा को गए। इसी तरह अन्य पिछड़े वर्गों और दलित, मुसलमानों और ईसाइयों के भी काफी वोट भाजपा को मिले। हो सकता है, उनका मकसद कुछ और रहा हो, लेकिन तथ्य यह है कि उन्होंने भाजपा को वोट दिए।

वोट मिले, विश्वास नहीं

मुझे लगता है नरेंद्र मोदी खुश तो हैं, पर संतुष्ट नहीं हैं। ऐसा कुछ तो है जिसे वे समझ गए हैं और शायद उनकी पार्टी में दूसरे लोग उसे पकड़ पाने में नाकाम रहे हैं, और वह यह कि दलितों, मुसलमानों, ईसाइयों और बेहद गरीबों के वोट हासिल कर लेना ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि उनका भरोसा जीतना भी जरूरी है। वे जानते हैं कि अपने पहले कार्यकाल में वे उनका भरोसा नहीं जीत पाए थे, इसलिए सबका साथ सबका विकास में सबका विश्वास भी जोड़ा।

यह एक चतुराई भरा कदम है, लेकिन इसमें जोखिम और मुश्किलें भी हैं। इस तरह की मुश्किलों के नाम हैं- गिरिराज सिंह, साध्वी निरंजन ज्योति और संजीव बालियान। और भी हैं जो चुन तो लिए गए, लेकिन दरकिनार कर दिए गए या चुन लिए गए और इंतजार में रखे गए हैं, जैसे- महेश शर्मा, अनंत कुमार हेगड़े, साक्षी महाराज, साध्वी प्रज्ञा सिंह ठाकुर और अन्य अनजाने।

गिरिराज सिंह जो एक कैबिनेट मंत्री हैं, पहले ही दो सहयोगी दलों के नेताओं के इफ्तार पार्टी में जाने को लेकर बेवजह अनुचित टिप्पणी कर चुके हैं। इसके लिए उन्हें पार्टी अध्यक्ष से फटकार भी सुननी पड़ी, लेकिन उन्होंने कोई खेद व्यक्त नहीं किया। साक्षी महाराज अपनी जीत के लिए धन्यवाद देने एक कैदी से मिलने जेल पहुंच गए जो उन्नाव बलात्कार कांड में जेल में बंद है। इस बलात्कार कांड ने 2017 में देश को हिला कर रख दिया था। साक्षी महाराज को अब तक कोई डांट-फटकार नहीं लगाई गई है।

बचपन या जवानी में जो पूर्वाग्रह बन जाते हैं उनसे मुक्त हो पाना आसान नहीं है। अगर संघ और भाजपा के नेता समय-समय पर इन पूर्वाग्रहों ('ईद के लिए बिजली, दीवाली के लिए बिजली नहीं', 'निर्वाचन क्षेत्र जहां अल्पसंख्यक बहुसंख्यक हैं') को हवा देते रहें तो ये मददगार नहीं होते। अगर दलितों और मुससमानों की भीड़ द्वारा हत्या की घटनाओं, जो कम से कम हफ्ते में एक बार तो हो ही जाती हैं, को नहीं रोक पाते हैं तो ये मददगार नहीं होते। अगर तीन सौ तीन सदस्यों में से एक मुसलिम समुदाय का चुन कर आ जाता है तो भी धारणा को बदलने में ये मददगार नहीं होते।

खौफ, कल्याण

एक और जटिल समस्या है। भाजपा इन वर्गों का विश्वास सिर्फ तभी जीत सकती है जब दो शर्तों को पूरा करे। पहली शर्त यह है कि किसी को भी खौफ में नहीं रहना चाहिए। दूसरी शर्त यह है कि धीरे-धीरे उनका आर्थिक स्तर सुधरना चाहिए। आज दोनों में से कोई भी शर्त पूरी नहीं हो पाई है, इसलिए अब यह देखना दिलचस्प होगा कि सरकार इन दो शर्तों को पूरा करने के लिए कैसे बढ़ती है।

खास वर्गों के मन से खौफ खत्म करने के लिए कड़े कदम उठाने की जरूरत है। जब कभी किसी अपराध के लिए सजा न दी जाए तो अपराधी और सजा न देने वालों के खिलाफ कार्रवाई सुनिश्चित की जानी चाहिए। क्या भाजपा उन लोगों को दंडित करेगी, जिन्होंने सजा देने में कोताही बरती और खौफ फैलाया? यह भारी काम है। आज के हालात में तो यह संभव नहीं दिखता, लेकिन मुझे उम्मीद है कि भाजपा नेतृत्व उन लोगों के खिलाफ अपनी शक्तियों का इस्तेमाल करेगा जो आपराधिक कृत्यों में शामिल हैं।

दूसरी शर्त दरअसल पूरी तरह सरकार के नियंत्रण में नहीं है। उदासीन वर्गों का आर्थिक स्तर तभी सुधरना शुरू हो पाएगा जब उन्हें और रोजगार मिलेंगे, और ज्यादा रोजगार सुरक्षा मिलेगी, उनकी आमद बढ़ेगी और सार्वजनिक वस्तुओं और सेवाओं तक उनकी पहुंच बेहतर होने लगेगी। रोजगार और आमद उच्च और न्यायसंगत आर्थिक वृद्धि से ही सृजित होती हैं। और 2018-19 का साल किस निराशाजनक स्थिति के साथ खत्म हुआ है कि उच्च और न्यायसंगत विकास दर का दूर तक नाम नहीं है।

मुझे संदेह है कि दलित, मुसलिम, ईसाई और गरीबी रेखा से नीचे के तबके के लोगों ने भाजपा के उम्मीदवारों को वोट इसलिए दिया कि कोई और दूसरा उम्मीदवार चुनाव जीतता नहीं लगा और निश्चित रूप से कोई दूसरा उम्मीदवार जीतता हुआ नहीं लग रहा था। यह समझदारी का वोट था, यह विश्वास का वोट नहीं था। इनका भरोसा जीतने के लिए भाजपा को अभी काफी कुछ करना है।

यह असाधारण स्थिति है। भाजपा ने अपने उत्साही समर्थकों (जिनकी नजरों में मोदी गलत नहीं कर सकते) और उदासीन वर्गों (जिनकी नजर में मोदी ने अब तक कुछ नहीं किया है) के वोटों के सहारे सरकार बनाई है।

यह देखना दिलचस्प होगा कि संसाधन संपन्न मोदी कैसे इस समंदर में बिना नक्शे के रास्ता तलाशते हैं।

बदरंग होते गांव

सुधीर विद्यार्थी

विगत कुछ दशकों से रचनाकारों का ग्रामीण जीवन से रिश्ता छीजा ही नहीं, बल्कि बड़े पैमाने पर टूटा है। गांवों से नगरों और फिर महानगरों की ओर पलायन इसका सबसे बड़ा कारक है। शहर चले गए लोगों की वह खेती लायक जमीन भी बिक-चुक गई, जिससे कभी उनका मिट्टी का रिश्ता रहा आया था। जो लेखक गांव में पले-बढ़े थे, उनके लिए भी शहर पहुंचने के बाद गांव एक नॉस्टेल्जिया भर रह गया, जो उनके सपने में जीने और भावुक होने का मामला बना रहा। स्मृतियों में रहा-बचा गांव यथार्थ में अब कहीं नहीं है। अब वह एकदम बदले और विरूपित रूप में हमारे सम्मुख विद्यमान है, जिसे शहरों के अपार्टमेंट्स में रह कर समझा नहीं जा सकता।

हालांकि आजादी के बाद देर तक गांवों में सामंती ढांचे के अवशेष बने-जमे रहे, जिनके टूटने-दरकने में काफी समय लगा। पर यह टूटन अनेक मायनों में सार्थक नहीं रही। इसे सबसे पहले तो इस रूप में देखा-समझा जा सकता है कि गांव-समाज बुरी तरह विघटित ही नहीं, बल्कि अनुपस्थित हुआ है। पूंजी और बाजार की दखलंदाजी से गांव अब पहले जैसे इकाई के तौर पर नहीं रहे। उनकी आत्मनिर्भरता खत्म हुई है। वे भी धीरे-धीरे नगर और महानगरमुखी होकर पराश्रित हो गए। वे अपने जीवन-यापन के मामले में भी पराधीनता का शिकार हुए। एक तरह से यह उनका स्पंदनहीन हो जाना है। संसदीय चुनावी राजनीति ने गांवों को अत्यंत बेदर्दी से जिस तरह निगलना और बदरंग करना शुरू किया, वह सचमुच पीड़ादायक है। सामंती ढांचा मिटा नहीं, बल्कि वह तब्दील होकर राजनीतिक दलों की बुनावट और सांचे-ढांचे में बहुत निर्लज्जता से ढलता-समाता चला गया। आज गांव राजनीतिक शत्रुता के हिंस्र अखाड़ों और शराबखोरी-मुकदमेबाजी के सबसे बड़े टापुओं में तब्दील हो गए हैं। शहर में बैठे कथाकार के लिए दूर से इस बदले गांव के यथार्थ को पकड़ पाना सचमुच कठिन होता जा रहा है।

गांवों में पहले भी जातियां थीं। सवर्ण और दबंगों का शोषण-दमन था, जो कमोबेश लंबे समय तक जाति-संघर्ष और जातीय शोषण के तौर पर बना रहा। धीरे-धीरे उसका चेहरा-मोहरा बदला। वोट की राजनीति ने जाति के आधार पर शोषितों-उत्पीड़ितों के भीतर नई चेतना का संचार किया। उनमें स्वयं के मनुष्य होने का भाव जागृत हुआ। उन्होंने सामंती वर्चस्व को तोड़ा। वे अपने अधिकारों के लिए उठ खड़े होने के रास्ते पर चल दिए। लेकिन इस स्थिति ने भी गांवों का बहुत भला नहीं किया। मसलन, जातिगत वैमनस्य और राजनीतिक खेमेबाजी की बुनियाद बेहद विषाक्त होती चली गई, जो किसी भी तरह ग्रामीण जीवन के नवनिर्माण के लिए उर्वर नहीं हो सकी। राजनीति में पहले जातियों का इस्तेमाल और बर्चस्व बढ़ा तो लगा कि यह जातिविहीन समाज के निर्माण के सपने को सार्थक और जीवंत करने का जरिया बनेगा, लेकिन दुर्भाग्यवश वैसा नहीं हो सका। जातिविहीन समाज के बनने की अवधारणा एक यूटोपिया ही बनी रही।

शहरों के अनाप-शनाप और उसके अनियोजित विकास के दैत्य ने विगत डेढ़-दो दशकों में ही कितने गांवों को निगल लिया, इसका मीजान लगाने का न किसी के पास समय है और यह सब समाज के नीति-निर्धारकों की चिंता के दायरे में भी नहीं आता। गांव के दुश्मन वे भवन निर्माता हैं, जो उनकी जमीनों को लगातार अजगर की मानिंद निगलते जा रहे हैं। इसका एक कारण यह भी है कि खेती-माटी के प्रति पहले जैसा मोह और लगाव किसानों के भीतर नहीं रहा-बचा, सो ऊंची कीमत मिलने पर उससे अपना रिश्ता तोड़ने में उन्हें कतई संकोच नहीं होता। गांव पहले इकाई थे। किसानी अपने जीवन-जरूरत की चीजें स्वयं उपजाती थी। धीरे-धीरे पैसे का महत्त्व बढ़ा और नकदी फसलों का चलन रूझान में आता गया। खेती-किसानी की जरूरत की चीजें कस्बे और शहरों से खरीद कर लाई जाने लगीं। गांवों की आत्मनिर्भरता के क्षतिग्रस्त होने का यह सबसे बड़ा कारण था। अब सोचिए कि एक गांव की कई फसली उपजाऊ धरती बिक कर जब शहर की सीमा में समा कर पलक झपकते अपनी छाती पर कंक्रीट का जंगल खड़ा कर लेती है, तो यह सिर्फ एक गांव और उसकी देहाती बस्ती का नष्ट हो जाना नहीं है, बल्कि उस गांव का रहन-सहन, रीति-रिवाज, वहां का लोक जीवन, गीत-गवनई, कथा-किस्से, खलिहान, अखाड़े, खान-पान, उनके लोक देवताओं के पूजा-थान, पालतू पशुओं के रंभाने की आवाजें, उनके बाड़े, खुरों के निशान, गोधूलि सब कुछ नष्ट हो जाता है, जिसकी भरपाई किसी तरह संभव नहीं।

शहरों के विकास का एक प्रतिबिंब यह भी है कि विस्तारित होती शहरी बस्तियों के बाहर बाईपास के निर्माण का सिलसिला इधर एक दशक से बेहद तेजी के साथ बना-पनपा और संचालित हुआ है। शहर के बाहर बनने वाले इन चमकीले और चौड़े मार्गों के निर्माण का फैसला और घोषणाएं बाद में होती हैं, लेकिन उससे पहले ही अपनी साठ-गांठ के चलते बिल्डरों और कॉलानाइजरों को इसका पता चल जाता है और वे औने-पौने दामों में किसानों की जमीनें खरीदना शुरू कर देते हैं। किसान इस मुनाफे और षड्यंत्र से बेखबर रहा होता है और अंततः ठगा जाता है।

आज का सबसे भयावह संकट यह है कि कृषि योग्य भूमि का रकबा बहुत तेजी से घटता जा रहा है। अब एक नगर से दूसरे नगर को जोड़ने वाले राजगार्मों के दोनों तरफ भी उद्योग-व्यवसाय और आवासीय इमारतें पसरती जा रही हैं, जिसके चलते सड़कों के किनारे की फसलों की स्वाभाविक हरित पट्टियां अनुपस्थित होती जा रही हैं। खेत और खेती पर यह नए ढंग का संकट है, जिसकी ओर किसी का ध्यान नहीं है।

मुद्दा

> आज का सबसे भयावह संकट यह है कि कृषि योग्य भूमि का रकबा बहुत तेजी से घटता जा रहा है। अब एक नगर से दूसरे नगर को जोड़ने वाले राजगार्मों के दोनों तरफ भी उद्योग-व्यवसाय और आवासीय इमारतें पसरती जा रही हैं, जिसके चलते सड़कों के किनारे की फसलों की स्वाभाविक हरित पट्टियां अनुपस्थित होती जा रही हैं।

छोटे किसान की किसी को चिंता नहीं है। उसे बचाने और संरक्षण देने का मकसद भी सत्ता-व्यवस्था और किसी राजनीतिक दल के पास नदारद है। फसल पैदा होने के बाद उसके मंडी (समितियों) तक पहुंचने-पहुंचाने तक भी बिचौलियों का साम्राज्य छोटे किसान की रीढ़ तनने नहीं दे रहा। हरी सब्जियां तक पॉलिथिन में पैक होकर अब मॉल में बिकने लगी हैं। नकदी फसलों के मोह ने गांव की अर्थव्यवस्था को चौपट कर दिया है। पुराना ढांचा टूटा, लेकिन नया निर्मित नहीं हो पाया। यह त्रासदी है गांवों की। हिंदी कथा संसार इसे ठीक ढंग से पकड़ नहीं पा रहा है। वहां शहरी जीवन के प्रतिबिंबन के पीछे यही है कि रचनाकार शहरवासी ही नहीं हुआ, बल्कि वह शहरी संस्कृति में इस कदर रच-बस गया है कि गांव अब उसके लिए पूरी तरह उपेक्षणीय और गैरजरूरी हो चुके हैं।

गांव में आज भी सघन अंधेरा है, जिससे उसे निकाल पाना बिजली के खंभों के बूते का तो बिल्कुल नहीं है। कथा-कहानी ही नहीं, फिल्मों में भी ग्रामीण जीवन के दृश्य पूरी तरह अनुपस्थित हो चुके हैं। नई पीढ़ी का गांव के प्रति आकर्षण खत्म हो चुका है। चमक-दमक और रंगीनी ही आधुनिकता और प्रगति का पर्याय बन चुकी है। ऐसे में गांव की तस्वीर पूरी तरह श्रीहीन और भयावह दिखाई पड़ रही है। एकदम बदरंग और दयनीय। धुंधलाते चित्रों की ओर देखना कोई पसंद नहीं करता। देहाती खुरदरा जीवन किसी को नहीं मोहता।

गांवों से शहरों की ओर पलायन को अनेक स्तरों पर चीन्हा जा सकता है। पढ़ी-लिखी नई पौध गांव में रहना नहीं चाहती। उसके लिए वहां अवसर भी नहीं हैं और उनके भीतर उस कठोर जिंदगी को जीने की इच्छाशक्ति भी पराजित हो चुकी है, जिसे कभी उसके पुरखों ने जिया था। गांव अब सुख-चैन या शांति की जगहें भी नहीं रहीं। वहां झगड़े-झंटे और व्यर्थ के वैमनस्य हैं। यही कारण है कि ग्रामीण जीवन की थाने-अदालतों में आवाजाही और उनका हस्तक्षेप अधिक बढ़ा है। सुलह-समझौतों और जीवन की सहभागिता का क्षरण इसके लिए जिम्मेदार है। हमारी बेशुमार और बेलगाम होती जीवन लालसाओं ने भी गांवों की शांति भंग की है। गांव अब सिर्फ खेतों के मध्य कुछ कच्चे और ज्यादा पक्के घरों की आबादी भर रह गए हैं जहां जीवन-रस पूरी तरह सूख-निचुड़ चुका है।

घाटी का दर्द

वक़्त की नब्ज़

■ तवलीन सिंह

कश्मीर घाटी से इन दिनों जब भी कोई खबर आती है, अक्सर बुरी खबर होती है। पिछले हफ्ते ईद के दिन सोशल मीडिया पर एक वीडियो वायरल हुआ, जिसमें नकाबपोश जिहादी आईएसआईएस के काले झंडे हाथों में लिए 'पाकिस्तान जिंदाबाद' के नारे लगाते दिखे श्रीनगर की बड़ी मस्जिद के सामने। हर दूसरे दिन खबर मिलती है किसी मुठभेड़ की, जिसमें मारे जाते हैं भारत के दिलेर जवान एक ऐसे युद्ध में, जिसमें न युद्धभूमि है न असली दुश्मन। यह ऐसा युद्ध है, जिसमें न हार होती है किसी की, न जीत। हर ऐसी खबर के बाद ऐसा लगता है कि कश्मीर घाटी में चारों तरफ हिंसा की आग जल रही है और वहां जाने में खतरा है।

सो, पिछले हफ्ते जब मैं श्रीनगर गई, तो मुझे ऐसा लगा जैसे वही माहौल दिखेगा इस शहर में जो नब्बे के दशक में था, जब आतंकवाद की शुरुआत हुई थी कश्मीर को 'आजादी' दिलाने के नाम पर। वे दिन इतने बुरे थे कि कभी भी किसी वक्त श्रीनगर में हिंसा भड़क सकती थी। ये वही दिन थे जब कश्मीरी पंडितों को रातोंरात कश्मीर छोड़ कर भागना पड़ा था। ये वही दिन थे जब इस्लाम के नाम पर सिनेमाघर और शराब की दुकानें जबर्दस्ती बंद करवाते थे 'आजादी' के सिपाही। इन हादसों को मैंने अपनी आंखों से देखा था, क्योंकि श्रीनगर तकरीबन हर दूसरे हफ्ते जाया करती थी। कश्मीर पर किताब लिख रही थी और वहां जाए बिना काम नहीं बनता था, इसलिए कि उन दिनों टीवी के नाम पर सिर्फ दूरदर्शन था, जो हर हिंसक घटना को छिपाने की कोशिश करता था।

इस बार गई तो सोचा था कि वही माहौल मिलेगा श्रीनगर में। सो, हैरान हुई जब श्रीनगर में शांति का माहौल दिखा और लोगों में हिंसा को लेकर एक गहरी थकान। पुलवामा वाले हमले के बाद मुसाफिर इतने थोड़े गए हैं कश्मीर कि श्रीनगर के होटल और हाउसबोट तकरीबन खाली पड़े हैं इस मौसम में, जब पर्यटन पर निर्भर कश्मीरी अपनी आधी से ज्यादा सालाना कमाई करते हैं। दुख उनको लेकिन सिर्फ अपनी आर्थिक कठिनाइयों से नहीं है। दुख इस बात का भी है कि ऐसा लगने लगा है कि शांति कभी वापस लौट कर ही नहीं आएगी।

एक कारोबारी ने अपनी मायूसी इन शब्दों में व्यक्त की, 'बहुत सालों बाद 2016 में मैंने अपने कारोबार को बढ़ाने के लिए सोनमर्ग में कुछ जमीन खरीदी यह सोच कर कि वहां होटल या गेस्टहाउस बनाऊंगा। उस वक्त अमन-शांति का माहौल इतना बना हुआ था और सैलानी इतने आ रहे थे कि ऐसा लगा कि कश्मीर के अच्छे दिन दोबारा लौट कर आ गए हैं। फिर वह मुठभेड़ हुई, जिसमें बुरहान वानी को मार दिया गया और शांति ऐसी गायब हुई कि महीनों तक श्रीनगर की सड़कों पर पत्थरबाजी होती रही। अब जब फिर से आने लगे थे सैलानी, तो पुलवामा की घटना हो गई और आप देख रही हैं कि यह होटल तकरीबन खाली है और यही हाल है हर होटल का।'

> पुलवामा के बाद प्रधानमंत्री मोदी ने स्पष्ट किया है कई बार कि पाकिस्तान से बातचीत का सिलसिला दुबारा तभी संभव होगा, जब पाकिस्तान सरकार अपने जिहादी गुटों पर लगाम लगाने का ईमानदारी से प्रयास करती दिखेगी। सवाल है कि क्या हम कश्मीर में शांति ला सकते हैं पाकिस्तान से बातचीत किए बगैर?

कश्मीर की मायूसी देख कर मुझे दुख तो हुआ, लेकिन इस बात का ध्यान भी आया कि इस मायूसी का फायदा उठा कर प्रधानमंत्री मोदी नए सिरे से कोशिश शुरू कर सकते हैं कश्मीर घाटी में शांति बहाल करने की। ऐसा नहीं कि अपने पहले कार्यकाल में उन्होंने कोशिश नहीं की थी, लेकिन उस समय नाकाम रहीं उनकी कोशिशें, क्योंकि राज्य की मुख्यमंत्री महबूबा मुफ्ती थीं, जिनको न राजनीतिक अक्ल थी और न प्रशासनिक समझ। सो, बुरहान वानी की हत्या के बाद जब पत्थरबाजों की भीड़ें श्रीनगर की सड़कों पर रोज निकलने लगीं अपना रोष जाहिर करने, महबूबा कुछ नहीं कर पाईं और स्थिति बिगड़ती गई है पिछले तीन वर्षों में। सो, आज अगर राज्य का शासन एक ऐसे राज्यपाल के हाथों में है, जिनको राजनीतिक समझ है, बहुत अच्छा मौका है एक बार फिर शांति लाने की कोशिश करने का।

ऐसा अगर करना चाहते हैं प्रधानमंत्री, तो शायद अटल बिहारी वाजपेयी की कश्मीर नीति से प्रेरणा ले सकते हैं। अटलजी ने जो 'कश्मीरियत, इंसानियत, जम्हूरियत' को आधार बना कर अपनी नीति बनाई थी, वह आज भी कश्मीरी याद करते हैं और जितना सम्मान अटलजी के लिए मैंने देखा इस बार, शायद ही किसी दूसरे प्रधानमंत्री के लिए कभी देखा होगा।

कश्मीर को हम अपनी अंदरूनी समस्या मानते हैं, लेकिन यह भी सच है कि पाकिस्तान से बात किए बिना इस समस्या का समाधान नामुमकिन है। पुलवामा के बाद प्रधानमंत्री मोदी ने स्पष्ट किया है कई बार कि पाकिस्तान से बातचीत का सिलसिला दुबारा तभी संभव होगा, जब पाकिस्तान सरकार अपने जिहादी गुटों पर लगाम लगाने का ईमानदारी से प्रयास करती दिखेगी। सवाल है कि क्या हम कश्मीर में शांति ला सकते हैं पाकिस्तान से बातचीत किए बगैर?

कश्मीर घाटी में बहुत सालों बाद माहौल बना है अमन-शांति की वापसी का। बहुत सालों बाद श्रीनगर में मुझे एक भी ऐसा व्यक्ति नहीं मिला इस बार, जिसने जिहादियों का समर्थन किया। मोदी पहली बार जब प्रधानमंत्री बने थे तो नए सिरे से कश्मीर से रिश्ता जोड़ सकते थे, लेकिन उस बार चूक गए, क्योंकि जिस बाढ़ राहत का वादा कर गए थे कश्मीर में पहुंच कर वह 'पैकिज' कभी आया नहीं। श्रीनगर में शायद ही कोई घर था जिसको बाढ़ से गंभीर नुकसान न हुआ हो और जिसको सरकारी राहत की सख्त जरूरत न हुई हो, लेकिन वह राहत कभी पहुंची नहीं और मोदी ने घाटी का दिल जीतने का एक बहुत अच्छा मौका गंवा दिया। आज फिर से मौका है नए सिरे से कश्मीर में शांति लाने की कोशिश करने का। उम्मीद है कि इस बार इस मौके को मोदी हाथ से नहीं निकलने देंगे।

दीदी को इतना गुस्सा क्यों आता है?

बाखबर

■ सुधीश पचौरी

नूतन सरकार! नया नया उत्साह, हर तरफ छलका पड़ रहा है।

सौ दिन का एजंडा। सौ दिन सरकार के इरादों के। सौ दिन मंत्रियों के। सौ दिन काम के। सौ दिन सौ बार बताने के- क्या क्या किया है, क्या क्या करना है और क्या क्या करेंगे कि बहुत तेजी से विकास करना है और नया भारत बनाना है।

सौ दिन के संकल्प बताए जा रहे हैं। नए नए मंत्री पुलकित हो कार्यभार ग्रहण कर 'फोटो ऑप' कर रहे हैं। हर खबर चैनल कोर्निश बजाता दिख रहा है कि आज उन्होंने कार्यभार संभाला, आज इन्होंने कार्यभार संभाला!

एंकरों में नंबर दो को लेकर दार्शनिक किस्म का ऊहापोह बना रहा। जिनकी आत्मा संशय से संतप्त नहीं रही, वे पहले ही क्षण से बताते रहे कि असली नंबर दो कौन हैं। उनके अहर्निश कवरेज बताते रहे कि इन दिनों असली 'डेप्युटी' कौन हैं?

तेज विकास की हुलास में ज्यों ही नई शिक्षा नीति का प्रस्ताव आया, त्यों ही उसमें प्रस्तावित तीन भाषा फार्मूले की धुनाई होने लगी। पहला गोला डीएमके नेता स्टालिन ने दागा कि भारत सिर्फ हिंदी राज्यों का देश नहीं है और इस नीति के बहाने हिंदी का थोपा जाना बर्दाश्त नहीं किया जाएगा।

अंग्रेजी एंकरों की मानो मन की चीती हो गई। हिंदी थोपने की बात पर सब धुनाई करने लगे। कर्नाटक तक से हिंदी-विरोधी कांग्रेसी आवाजें सुनाई देने लगीं। डीएमके के कंपटीशन में एआईडीएमके के महाबली जी ट्वीट मार दिए कि तीसरी भाषा की जगह सारे भारत में तमिल पढ़ाई जाए।

मगर फिर पता नहीं क्या हुआ कि ऐसे दिव्य तमिलवादी ट्वीट को अचानक वापस ले लिया गया।

सरकार तुरंत चेती और नई शिक्षा नीति के प्रस्ताव से 'तीसरी भाषा के रूप में हिंदी' वाली लाइनें हटा दी गईं, साथ ही अन्य भाषाओं की तरह हिंदी को भी 'वैकल्पिक' कर दिया और इस तरह 'डैमेज कंट्रोल' किया गया। मंत्री जी बोले कि यह 'प्रस्ताव' भर है, 'नीति' नहीं है।

तब भी अंग्रेजी एंकर तीन दिन तक हिंदी को 'टारगेट' करते रहे, लेकिन अफसोस कि इतने सारे हिंदी चैनलों में से एक भी हिंदी की पिटाई के खिलाफ नहीं जुटा!

कुछ अंग्रेजी चैनलों की जात ही कुछ ऐसी है कि कमाई हिंदी विज्ञापनों से करते हैं और गरियाते भी हिंदी को हैं! अरे भैये! हिंदी से इतनी ही नफरत है तो हिंदी के विज्ञापन दिखाना छोड़ दो। इस तरह हिंदी की कमाई खाना भी छोड़ दो!

और हिंदी खबर चैनल! उनके पास तो जैसे कोई भाषा नीति ही नहीं दिखती। तीन-चार दिन हिंदी पिटती रही और वे उसके पक्ष में एक लाइन न बोले! हिंदी से कमाई और हिंदी की ठुकाई! कुछ तो शर्म करो महानुभावो!

> कुछ अंग्रेजी चैनलों की जात ही कुछ ऐसी है कि कमाई हिंदी विज्ञापनों से करते हैं और गरियाते भी हिंदी को हैं! अरे भैये! हिंदी से इतनी ही नफरत है तो हिंदी के विज्ञापन दिखाना छोड़ दो। इस तरह हिंदी की कमाई खाना भी छोड़ दो!

इधर, सरकार नए भारत को बनाने में जुटी रही। उधर कुछ नेता नए भारत में अपनी 'ठोक-लीला' प्रदर्शित करते रहे।

कई चैनल ऐसे 'ठोक वीडियो' दिखाते रहे : एक बड़े दल का नेता एक लघु दल की नेत्री को सरेआम लात-घूंसों से मारता है। अगले सीन में औरत न्याय की गुहार करती है। एक एंकर पूछती है कि क्या इस औरत को इंसाफ मिलेगा? क्या 'महिला आयोग' इस शर्मनाक घटना का संज्ञान लेगा। लेकिन शाम तक अगले वीडियो में वही औरत उसी पीटने वाले को राखी बांधती दिखती है और बताती है कि उन्होंने माफी मांग ली, तो हमने राखी बांध दी! इसे कहते हैं कि 'धींग मारे रोने न दे'! इसका अगला संस्करण है : धींग मारे भी और राखी भी बंधवाए!

नए भारत में घृणा के भी एक से एक दिव्य संस्करण बनते रहे : ममता दीदी कार में जा रही हैं कि सड़क के एक ओर से 'जै श्रीराम' के नारे सुनाई पड़ते हैं। ममता दीदी कार रोक और उतर कर नारेबाजों को ललकारने लगती हैं : मुझे गाली देते हो... मेरे सामने आकर दो...

बार-बार 'जै श्रीराम' नारा लगता दिखता। बार-बार कार रुकती। ममता दीदी उतरतीं और वही डायलाग बोलतीं। अंग्रेजी के दो एंकर ममता दीदी की असहिष्णुता को कोसते रहे। जवाब में टीएमसी वाले भी 'बंगी-हिंदी' में बहसते रहे कि बंगाल में 'जै श्रीराम' नहीं चलता। इधर 'जय मां काली', 'जय बांग्ला' और 'जय हिंद' चलता है।

इसके आगे फूहड़ किस्म की गांधीगीरी की जाने लगी। 'जै श्रीराम' वालों ने एलान किया कि वे 'जै श्रीराम' लिखे हुए दस लाख पोस्टकार्ड ममता दीदी को भेजेंगे, तो जवाब में टीएमसी वाले बोले कि हम दिल्ली को बीस लाख पोस्टकार्ड पर 'जय बांग्ला' 'जय हिंदी' लिख कर भेजेंगे! अंत में एक टीएमसी वाले ने 'जै श्रीराम की टीआरपी डाउन' कह कर भक्तों को 'चैलेंज' किया, जिसका उत्तर अभी आना है।

ममता दीदी को इतना गुस्सा क्यों आता है?

ममता चिढ़ती हैं, तो चिढ़ाओ और उनकी चिढ़ को 'एक्सपोज' करो- भक्त जन पिछले पांच साल से इसी तरह की भड़काऊ और चिढ़ाऊ सांस्कृतिक राजनीति करते रहे हैं और चिढ़ कर और खिसिया कर विपक्षी उनकी संकुल राजनीति में फंसते रहे हैं। ध्यान रहे, आपकी चिढ़ आपको कमजोर दिखाती है। चिढ़ा हुआ चेहरा भक्तों का सबसे आसान शिकार होता है।

और किसी से नहीं, तो ममता दीदी, माया-अखिलेश से ही सीख लें। इतनी करारी हार के बाद भी माया ने गठबंधन तोड़ा, तो हंसते हुए और अखिलेश ने टूटा माना तो हंसते हुए। ममता दीदी को इनसे कुछ तो सीखना चाहिए।

इस तू-तू मैं-मैं के बीच दिल्ली के सीएम केजरीवाल ने कमाल किया। दिल्ली मेट्रो और डीटीसी की बसों में दिल्लीवासी औरतों को मुफ्त में यात्रा करने का एलान करके भक्तों को चित्त कर दिया। कई भक्त एंकर बेचैन दिखे कि इतना पैसा कहां से लाएंगे कि ऐसी 'फ्री राइड' देने से खजाने खाली हो जाते हैं और कि यह सब चुनाव की हार के बाद वोट बैंक बनाने की राजनीति है। राजनीति किस चीज में नहीं है महाराज?